

बी.ए.पी.एस. स्वामिनारायण संस्था



युवा

अधिवेशन

2019

अमृतसंचय

(विशेष योग्यता श्रेणी वचनामृत 46 से 60)



सत्संग प्रवृत्ति - मध्यस्थ कार्यालय

अनुक्रमणिका

46. गढडा प्रथम-28.....	3
47. गढडा प्रथम-44.....	5
48. गढडा प्रथम-50.....	8
49. गढडा प्रथम-55.....	10
50. गढडा प्रथम-56.....	13
51. गढडा प्रथम-57.....	15
52. गढडा प्रथम-60.....	16
53. गढडा प्रथम-61.....	18
54. सारंगपुर-3.....	20
55. कारियाणी-7.....	22
56. कारियाणी-10.....	25
57. लोया-1.....	27
58. गढडा मध्य-5.....	30
59. गढडा मध्य-45.....	32
60. गढडा मध्य-50.....	34

विशेष योग्यता

46. गढडा प्रथम-28 : अर्धदग्ध काष्ठ; साधना में उत्थान-पतन

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिस सत्संगी का सत्संग से पतन होनेवाला हो, उसमें असद् वासना की वृद्धि होती है तथा उसे सबसे पहले तो दिन-प्रतिदिन सत्संगीमात्र के प्रति दोष-भावना हो जाती है और वह अपने हृदय में ऐसा समझता है कि 'सभी सत्संगी नासमझ हैं, और केवल मैं ही हूँ, जो समझदार हूँ।' इस प्रकार वह सबसे अधिक अपने आपको ही महत्त्वपूर्ण समझता है। ऐसा व्यक्ति रात-दिन अपने हृदय में स्वयं को हताश महसूस करता है और दिन में किसी भी जगह चैन से नहीं बैठ पाता। यदि वह रात में सोये, तो उसे नींद तक नहीं आती

तथा उसका क्रोध कभी मिटता ही नहीं और आधे जले हुए काष्ठ की भांति उसका हृदय अर्धदग्ध रहा करता है। जिसकी दशा इस प्रकार की हो जाए, उसे देखकर समझना चाहिए कि 'सत्संग से इसका पतन होनेवाला है।' ऐसी दशा में वह चाहे जितने भी दिन सत्संग में रहे, परन्तु उसे कभी भी आनन्द नहीं मिलता और अन्त में उसका पतन निश्चित ही हो जाता है।

इसके अलावा सत्संग में जिसकी प्रगति होनेवाली हो, उसकी शुभ-वासना में वृद्धि होती है। उसके हृदय में दिन-प्रतिदिन सत्संगीमात्र के प्रति गुणदृष्टि ही रहा करती है और वह सभी हरिभक्तों को महान समझता है, तथा स्वयं को न्यून समझता है। उसके हृदय में आठों प्रहर सत्संग का आनन्द छाया रहता है। जब ऐसे लक्षण हों, तब समझना चाहिए कि 'उसकी

शुभवासना में वृद्धि हो चुकी है।' वह ज्यों-ज्यों अधिक सत्संग करता है, त्यों-त्यों उसकी उन्नति अधिक होती जाती है और अतिशय महत्ता को वह प्राप्त करता है।' इस प्रकार बात करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास पर पधारे।

47. गढडा प्रथम-44 : परमेश्वर में दृढ़
प्रीति तथा देहरूप अंगरखा

उस समय श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'भगवान में स्नेह हो, उसका क्या स्वरूप (लक्षण) है?' तब ब्रह्मानन्द स्वामी स्नेह का स्वरूप बताने लगे, परन्तु समाधान नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'आपको तो स्नेह की दिशा ही नहीं मिली, और आपने 'पिंड-ब्रह्मांड से निःस्पृह रहने' को स्नेह बताया, परन्तु

यह स्नेह का स्वरूप नहीं, यह तो वैराग्य का रूप है। वस्तुतः स्नेह तो उसे कहते हैं, जिसके द्वारा 'भगवान की मूर्ति की अखंड स्मृति बनी रहे।' जिस भक्त का पूर्ण स्नेह भगवान में रहता हो, उसे तो भगवान के सिवा अन्य संकल्प होता ही नहीं। और, यदि भगवान के बिना अन्य संकल्प होते हैं, तो उसके स्नेह में उतनी कमी है। तथा, जिसे भगवान से पूर्ण स्नेह हो, उसे जाने-अनजाने में यदि भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य कोई भी संकल्प हो गया, तो उसे इतना असह्य कष्ट होता है कि जिस प्रकार पाँच प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करते समय किसी के द्वारा अंजली भरकर कंकड़ और मिट्टी डाले जाने पर होता है अथवा भाल में किसी तप्तमुद्रा दाग दिये जाने पर होता है। इस तरह भगवान के बिना मन में दूसरा संकल्प उठने पर ऐसा कष्ट होता हो, तो समझें कि उसे

भगवान से प्रीति है। अतः आप सब अपने-अपने हृदय को टटोल कर देखिए, तो जिसको जितनी प्रीति होगी, उसका पता उसको लग जाएगा।’

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ‘भगवान से ऐसी दृढ़ प्रीति बनी रहे, उसका कौन-सा साधन है?’ तब श्रीजीमहाराज कहने लगे कि ‘सत्पुरुष का प्रसंग ही परमेश्वर में दृढ़ प्रीति होने का कारण होता है।’

फिर सोमलाखाचर बोले कि ‘ऐसा प्रसंग तो बहुत करते हैं, फिर भी ऐसी दृढ़ प्रीति क्यों नहीं होती?’ तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि ‘आप प्रसंग तो करते हैं, परन्तु उसमें भी आधा प्रसंग हमारा और आधा प्रसंग जगत-संसार का करते हैं। इसी कारण भगवान में दृढ़ प्रीति नहीं होती।’

48. गढडा प्रथम-50 : कुशाग्रबुद्धि

फिर श्रीजीमहाराज ने मुनियों से यह प्रश्न पूछा कि 'जिसकी कुशाग्रबुद्धि होती है, उसे ब्रह्म (परब्रह्म) की प्राप्ति होती है। ऐसी कुशाग्र-बुद्धि क्या लौकिक व्यवहार में अत्यन्त दक्ष पुरुष हो, अथवा शास्त्रों-पुराणों के भलीभाँति अर्थवेत्ता हो, उसकी कही जा सकती है या नहीं?' इसका उत्तर देने का मुनियों ने प्रयत्न किया, परन्तु यथार्थरूप से वे उत्तर न दे पाए। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'कितने ही मनुष्य अत्यन्त व्यवहार-कुशल होते हैं, फिर भी वे आत्मकल्याण के लिए कोई भी यत्न नहीं करते तथा कुछ लोग शास्त्रों, पुराणों और इतिहास के अर्थों को अच्छी तरह जानते हुए भी अपने कल्याण के लिए कोई प्रयास नहीं करते, इसीलिए उन्हें कुशाग्रबुद्धिवाला

नहीं मानना चाहिए। बल्कि, ऐसे मनुष्यों को स्थूलबुद्धिवाला ही समझा जाना चाहिए। जो कल्याण के लिए प्रयत्न करता है, वह अल्पबुद्धि होने पर भी कुशाग्रबुद्धिवाला है तथा जो लौकिक व्यवहार में दत्तचित्त होकर जुटा हुआ है, वह अति सूक्ष्मबुद्धिवाला होने पर भी स्थूलबुद्धिवाला कहलाता है। इस विषय पर भगवद्गीता का श्लोक है :

*'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'*

इसका अर्थ यह है कि भगवान का भजन करने में समस्त जगत के जीवों की बुद्धि रात्रि के समान अन्धकारमय बनी रहती है, अर्थात् ऐसे जीव भगवान का भजन नहीं करते। जो भगवद्भक्त हैं, वे भगवान के भजन के सम्बंध में जाग्रत हैं, अर्थात् वे भगवान का निरन्तर

भजन करने में लगे हुए हैं। एवं, एक ओर जहाँ जीवमात्र की बुद्धि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध नामक पाँच विषयों में जाग्रत बनी हुई है, अर्थात् ये जीव विषयों को भोगने में ही लगे हुए हैं, वहीं दूसरी ओर भगवान के भक्तों की बुद्धि इन विषयभोगों के प्रति अन्धकारयुक्त बनी रहती है, अर्थात् वे विषयों का उपभोग नहीं करते।

अतः इस तरह जो अपने कल्याण के लिए सावधान रहते हैं वही कुशाग्रबुद्धिवाले हैं और उनके बिना तो सभी मूर्ख हैं।’

**49. गढडा प्रथम-55 : भजन-स्मरण तथा
व्रत-नियम की दृढता**

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ कीजिए।’ उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ‘जीव में भजन, स्मरण तथा

व्रत-नियमों के पालन की एक समान दृढ़ता क्यों नहीं रहती?’ फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ‘अशुभ देश, काल, क्रिया और संग का योग होने के कारण ऐसी दृढ़ता नहीं रहती। यह दृढ़ता भी तीन प्रकार की होती है: उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। किन्तु देश, काल, क्रिया और संग बहुत खराब होने पर वे उसकी उत्तम दृढ़ता को भी समाप्त कर डालते हैं। फिर मध्यम और कनिष्ठ दृढ़ता की तो बात ही क्या करें? देश, काल, क्रिया और संग के अत्यन्त खराब होने पर भी यदि दृढ़ता ज्यों की त्यों बनी रहती है, तो उसका कारण पूर्वजन्म के बीजरूप भारी संस्कार और भारी पुण्य हैं। यदि देश, काल, क्रिया और संग, सभी अतिपवित्र हैं, फिर भी किसी की बुद्धि मलिन हो जाती है, तो उसका यही कारण है कि

उसके पूर्वजन्म तथा इस जन्म का कोई बड़ा पाप आज बाधक बन रहा है अथवा भगवान के किसी बड़े भक्त के साथ किया गया द्रोह उसके मार्ग में रुकावट डाल रहा है, क्योंकि देश, काल, क्रिया और संग अच्छा होने पर भी उसका अन्तःकरण खराब हो जाता है। इसीलिए अब वह सत्पुरुष की सेवा में यदि सावधान हो जाए, तो उसके पाप जलकर भस्म हो जाते हैं। यदि अतिपापी का संग हो जाए, तो पाप में वृद्धि होती है तथा कुछ पुण्य बचा हो, वह भी नष्ट हो जाता है। और मदिरापान करनेवाली वेश्याओं के गले में हाथ डालकर कोई बैठ जाए, फिर परमेश्वर को दोष दे कि 'भगवान ने मेरा मन ठिकाने पर क्यों नहीं रखा?' ऐसे पुरुष को तो महामूर्ख समझना चाहिए।'

50. गढडा प्रथम-56 : निर्मानी भक्त की
महत्ता; इष्टदेव की निष्ठा

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि, 'हे महाराज ! ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा अन्य शुभ गुणों के योग से यदि अभिमान उत्पन्न हो जाए, तो उसे किस उपाय द्वारा टालना चाहिए ?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, 'भगवान के भक्तों के माहात्म्य को जानकर स्वयं उन्हें नमस्कार करें, और उनकी सेवा-चाकरी करें। यदि हृदय में मान का कोई संकल्प उत्पन्न हो, तो ऐसे विपरीत विचारों को पहचाने तथा (आत्म) विचार का बल रखें, तभी उसका मान मिट जाता है। और, अतिशय प्रेमलक्षणा भक्ति के फलस्वरूप भगवान यदि उस भक्त के वश में हो गए तब उस भक्त के हृदय में कदाचित् भक्ति का घमंड पैदा

हो जाए, तो भी उसमें यह एक बड़ी कमी रहेगी। यदि आत्मज्ञान अथवा वैराग्य का मान रहता है, तो भी वह मान देहात्मबुद्धि को ही दृढ़ करता है। इसलिए, भगवान के भक्तों को किसी भी प्रकार का मान नहीं रखना चाहिए, यही भगवान को प्रसन्न करने का उपाय है। जो अन्तर्दृष्टिवाले भगवान के भक्त हों, वे यदि आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने हृदय को टटोलकर देखेंगे, तो उन्हें थोड़ा-सा भी मान रहता होगा, तब उसके अन्तःकरण में विराजमान भगवान की मूर्ति की दृष्टि कठोर दिखाई पड़ेगी और जब उसे निर्मान-भाव रहेगा, तब अपने हृदय में बस रहे भगवान की मूर्ति की दृष्टि अतिशय प्रसन्न प्रतीत होगी। इसीलिए, भगवान के भक्तों को (आत्म) विचार का बल रखकर किसी भी प्रकार के मान को उत्पन्न होने का अवसर नहीं देना चाहिए।

51. गढडा प्रथम-57 : मोक्ष के असाधारण कारण

फिर शिवानन्द स्वामी ने पूछा, 'सत्संग में रहने की गरज तो है, फिर भी कोई अनुचित स्वभाव रह जाता है, वह क्यों नहीं टलता?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जो स्वभाव सत्संग में विघ्न डालता हो, उस पर जब तक अरुचि पैदा न हो जाए, तब तक उसे सत्संग की पूरी गरज ही कहाँ है? और उस स्वभाव को भी पूरा शत्रु कहाँ समझा है? जैसे कोई पुरुष अपना मित्र हो और उसी ने अपने भाई को मार डाला हो, तो फिर उसके साथ मित्रता नहीं रहती और उसी का सिर काटने के लिए वह तैयार हो जाता है। क्योंकि मित्र की अपेक्षा भाई का सम्बंध अधिक है। वैसे ही अपना जो स्वभाव नियम-पालन में बाधा डालकर अपने को सत्संग से

विमुख करता हो, उस स्वभाव पर यदि वैरभाव नहीं हो जाता, तथा उस स्वभाव पर क्रोध नहीं आता, तब समझना कि उसे सत्संग में पूर्ण स्नेह नहीं है। और, अपने भाई पर जैसा स्नेह मनुष्य को रहता है वैसा ही स्नेह यदि सत्संग पर रहे, तो वह अनुचित स्वभाव को तत्काल मिटा सकता है। क्योंकि जीव अतिसमर्थ है। जैसे कि मन और इन्द्रियाँ आदि क्षेत्र हैं तथा जीव इनका क्षेत्रज्ञ है, अतः जीव जो चाहे, वह कर सकता है।’

52. गढडा प्रथम-60 : वासना को मिटाने की साधना

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, ‘वासना को टालने का क्या उपाय है?’ तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि ‘एक तो आत्मनिष्ठा की दृढ़ता चाहिए। दूसरा, पंचविषयों की तुच्छता समझनी चाहिए और तीसरा भगवान का अतिशय

माहात्म्य समझना चाहिए कि भगवान वैकुण्ठ, गोलोक एवं ब्रह्ममहोल, इन समस्त धामों के स्वामी हैं, इसलिए, ऐसे भगवान को प्राप्त करके तुच्छ विषयों के सुख में मैं अनुरक्ति क्यों रखूँ?' इस प्रकार भगवान की महिमा का विचार करें और यह सोचें कि भगवान का भजन करने पर भी यदि कोई कमी रह गई और कदाचित् भगवान के धाम की प्राप्ति न हो पाई तथा भगवान यदि हमें इन्द्रलोक एवं ब्रह्मलोक में रखें, फिर भी इस पृथ्वी लोक की अपेक्षा तो वहाँ करोड़ गुना अधिक सुख है।' ऐसा विचार करके इस संसार के तुच्छ सुख की वासना से रहित हो जाना चाहिए। इस प्रकार भगवान की महिमा जानकर जब कोई वासनारहित हो जाता है, तब उसे प्रतीत होता है कि मुझमें कभी वासना थी ही नहीं! वह तो बीच में मुझे कुछ भ्रम-सा हो गया था, परन्तु

मैं तो सदा वासनारहित हूँ।' इस प्रकार का जो एकान्तिक धर्म है, वह ऐसा निर्वासनिक पुरुष हो, तथा जिसने भगवान में अपनी स्थिति बना रखी हो, उसके वचनों से ही सुलभ हो जाता है। केवल ग्रन्थों में लिखे हुए वचनों से वह एकान्तिक धर्म प्राप्त नहीं होता। यदि कोई ऐसी बातें सुनकर ठीक इसी प्रकार से वैसी की वैसी बात करने का प्रयत्न करे, तो उसे ऐसी बात करना भी कठिन हो जाता है! अतः जिसकी एकान्तिक धर्म में सुदृढ़ स्थिति हो गयी हो, उसी के द्वारा ही एकांतिक धर्म की सिद्धि हो सकती है।'

53. गढडा प्रथम-61 : राजा बलि की
अनन्य भक्ति

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'काम, क्रोध, लोभ तथा भय के योग से भी धैर्य से विचलित न होने का क्या उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'मैं देह नहीं, बल्कि शरीर से भिन्न और सबको जाननेवाली आत्मा हूँ।' ऐसी आत्मनिष्ठा जिसे सुदृढ़ हो जाती है तब वह किसी भी तरह धैर्य से विचलित नहीं हो सकता। किन्तु आत्मनिष्ठा के बिना यदि अन्य अनेक उपाय क्यों न करें, पर धैर्य कभी नहीं टिकेगा।'

यह सुनकर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा, 'यदि (उपासनाहीन केवल) आत्मनिष्ठा रहे तो वह अन्त समय में कितनी सहायता करती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि नदी को तैरकर पार करना है, तो ऐसा काम वही कर सकता है, जिसे तैरना आता हो, किन्तु जिसे तैरना न आता हो, वह मजबूर होकर खड़ा ही रहेगा। किन्तु जब समुद्र को तैरकर पार करना हो, तो दोनों को जहाज की ही आवश्यकता होगी। उसी

प्रकार ठंड, धूप, भूख, प्यास, मान, अपमान, सुख एवं दुःखरूपी नदी को आत्मनिष्ठावाला पुरुष तैरकर पार कर लेता है, परन्तु मृत्यु का समय समुद्र के समान है। अतः आत्मनिष्ठावाले या आत्मनिष्ठाहीन, दोनों को ही भगवान के उपासनारूपी जहाज की आवश्यकता होती है। अतएव, अन्तकाल में भगवान का दृढ़ आश्रय ही काम में आता है, आत्मनिष्ठा किसी काम में नहीं आती। इसीलिए भगवान की उपासना को सुदृढ़ करके रखना।’

54. सारंगपुर-3 : श्रवण, मनन,
निदिध्यास और साक्षात्कार

फिर निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा कि ‘हे महाराज! श्रवण, मनन, निदिध्यास तथा साक्षात्कार किसे कहा जाता है?’

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रोत्रों द्वारा वार्ता को सुनना उसे श्रवण कहा जाता है। और, जो वार्ता सुनी है, उस पर मन द्वारा विचार करके, जितनी वार्ता त्याग करने योग्य हो, उतनी छोड़कर उसके ग्राह्य अंश को ग्रहण करना वह मनन कहलाता है तथा जो वार्ता निश्चयपूर्वक मन में ग्रहण की गई हो, उसे रात-दिन स्मरण में रखने का अभ्यास करना उसे निदिध्यास कहा जाता है। तत्पश्चात् वह वार्ता बिना चिन्तन किए भी यथार्थरूप में मूर्तिमान के समान पूर्णतः स्मरण में आ जाए उसे साक्षात्कार कहते हैं। और, यदि आत्मा के स्वरूप का इस प्रकार श्रवणादि किया गया हो, तो आत्मस्वरूप का इस तरह साक्षात्कार हो जाता है। उसी प्रकार यदि भगवान की कथा का श्रवण, मनन और निदिध्यास किया गया हो, तो भगवान का साक्षात्कार हो जाता है। परन्तु,

बिना मनन एवं निदिध्यास किए, केवल श्रवण द्वारा ही साक्षात्कार नहीं हो पाता।

और, यदि भगवान के स्वरूप का दर्शन करके भगवान का मनन तथा निदिध्यास न किया गया हो, तो चाहे एक लाख वर्षों तक दर्शन करते रहने पर भी उनके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता। तथा वह दर्शन तो केवल श्रवणमात्र ही कहलाएगा।

55. कारियाणी-7 : आत्यंतिक कल्याण

उस समय बोचासण गाँव के काशीदास ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया कि 'हे महाराज! त्यागी पुरुष तो निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करते हैं, अतः वे भगवान में निरंतर मनोवृत्ति बनाये रखते हैं, परन्तु जो गृहस्थाश्रमी हैं, वे प्रवृत्तिमार्ग पर चलते हैं, अतः उन्हें अनेक सांसारिक उलझनों

ने घेर रखा है। अतएव, गृहस्थाश्रमियों के लिए कौन-सा उपाय है, जिससे भगवान के स्वरूप में उनकी भी निरंतर मनोवृत्ति बनी रहे ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'गृहस्थ को यह समझ रखनी चाहिए कि जिस प्रकार पूर्वजन्मों की चौरासी लाख योनियों में मेरे माँ-बाप और स्त्री-पुत्र हुए थे, वैसे के वैसे इस देह के भी हैं। कितने ही जन्मों की कितनी ही माताएँ, बहनें और पुत्रियाँ आज न जाने कहाँ कहाँ घूमती-फिरती होंगी! जिस प्रकार मुझे उनकी ममता नहीं रही, वैसे ही इस देह के सम्बंधियों से भी मुझे ममता नहीं रखनी चाहिए। ऐसा विचार रखकर सबसे आसक्ति छोड़कर वे भगवान से ही दृढ़ प्रीति करें और साधुओं का संग करें। ऐसा करने से गृहस्थ को भी त्यागी की तरह भगवान में निरंतर वृत्ति रह सकती है।'

श्रीजीमहाराज की ऐसी बात सुनकर सभा में उपस्थित समस्त गृहस्थों ने हाथ जोड़कर पूछा 'हे महाराज! जिस गृहस्थ से इस तरह का आचरण न हो सके, उसका क्या हाल होगा?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह बात तो हमने उन लोगों के लिए कही है कि जो परमेश्वर के सिवा अन्य पदार्थों से समस्त वासनाओं को त्याग कर भगवान में ही निरंतर वृत्ति रखें। यदि वह ऐसा श्रद्धावान् न हो, तो उसे सत्संग की धर्ममर्यादा में रहकर सन्त और भगवान के आश्रय का संबल रखना चाहिए कि 'भगवान तो अधमोद्धारक और पतितपावन हैं, वे मुझे साक्षात् मिले हैं।' श्रीजीमहाराज के ऐसे वचनों को सुनकर समस्त हरिभक्त अत्यन्त प्रसन्न हुए।

56. कारियाणी-10 : तप से भगवान की प्रसन्नता

फिर गोपालानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! त्याग तथा तप करने की मन में चाहत तो होती है, किन्तु त्याग या तप करते समय बीच में ही कोई विघ्न आ पड़े, तो उसके लिए क्या करना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे, जिस बात की सच्ची चाहत रहती है, उसके सामने यदि बीच में ही हजारों विघ्न उपस्थित हों, तो भी वह इन विघ्नों के रोकने से नहीं रुकता, वही उसकी सच्ची चाहत है, ऐसा समझें। देखिये न, हम पिछले इक्कीस वर्षों से श्रीरामानन्द स्वामी के सान्निध्य में आये हैं। यहाँ नाना प्रकार के वस्त्र, अलंकार और खान-पान इत्यादि द्वारा सेवा

करनेवाले असंख्य भक्त मिले हैं, परन्तु हमारा मन किसी भी पदार्थ में आकृष्ट नहीं हुआ, ऐसा इसलिए कि हमें त्याग करने की चाहत बनी हुई है।

और, इस संसार में कितनी ही विधवा स्त्रियाँ हैं, जो अपने पतियों की मृत्यु पर फूट-फूट कर रुदन ही करती रहती हैं तथा कितनी ऐसी स्त्रियाँ भी हैं, जो अपने पति का भी त्याग करके भगवान का भजन करती रहती हैं। और, कितने मूर्ख लोग हैं, जो अपनी स्त्रियों के मर जाने पर रोते रहते हैं और दूसरी स्त्रियों को पाने के लिए दौड़-धूप किया करते हैं। किन्तु कितने ही ऐसे वैराग्यवान पुरुष हैं, जो अपनी पत्नी का भी परित्याग करके परमेश्वर का भजन करते रहते हैं। इस प्रकार, सबकी चाहत भिन्न-भिन्न प्रकार की है।

और, हमारी तो यही चाहत है और यही सिद्धान्त है कि 'तप द्वारा भगवान को प्रसन्न करना, तथा भगवान को ही सबके कर्ता-हर्ता जानकर स्वामी-सेवक भाव से उन परमेश्वर की भक्ति करना तथा भगवान की उपासना को किसी भी प्रकार से खंडित नहीं होने देना।' अतः आप सब भी हमारे इन वचनों को परम सिद्धांत के रूप में मानिएगा।'

57. लोया-1 : क्रोध अत्यंत दुःखदायी
और संपूर्ण सत्संग

फिर छोटे शिवानंद स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'कभी भगवान के भक्त की महिमा खूब समझ में आती है और कभी इस प्रकार की महिमा नहीं जान पड़ती, इसका क्या कारण है?'

इसका उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज ने कहा

कि 'सन्त तो धर्मवान हैं। अतः वे जब कभी किसी को अधर्म के मार्ग पर चलता देखते हैं, तब उसे टोकते हैं। ऐसे समय पर देहाभिमानी को सद्विचारपूर्वक शिक्षा ग्रहण करना नहीं आता बल्कि वह, उस सन्त के अवगुण देखने लगता है! अतः जब तक सन्त उसके स्वभाव के सम्बंध में दुःख लगाकर न कहें, तब तक तो उसे सन्त की महिमा रहती है, किन्तु वे सन्त हितकारी बातें भी उसको दुःख लगाकर करें, तब वह उन सन्त का भी अवगुण लेने लगता है, और उनका माहात्म्य नहीं जानता है। और, जिसने सन्त का अवगुण देखा, वह तो किसी प्रकार के प्रायश्चित्त द्वारा भी शुद्ध नहीं हो पाता। जैसे कामादि दोषों के पाप का निवारण है, वैसे सन्त के प्रति किये द्रोह के पाप का निवारण नहीं है। और जैसे किसी को क्षयरोग हुआ, तो उसे मिटाने की

कोई औषधि नहीं है, वह तो निश्चित ही मरेगा, वैसे ही जिसने सन्त का अवगुण देखा हो, उसे तो क्षयरोग हो गया जान लें! वह तो पाँच दिनों के भीतर निश्चय ही विमुख हो जाएगा। और, जिस प्रकार मनुष्य के हाथ, पैर, नाक, आँख और उँगलियाँ आदि अंगों के कट जाने पर वह मरा नहीं कहा जाता, किन्तु धड़ से सर कट गया, तभी वह मरा कहलाता है; वैसे ही जिसके हृदय में हरिभक्त के प्रति दोष की भावना उत्पन्न हो गई, उसका तो सर ही कट गया समझो! यदि पंचव्रतों में किसी प्रकार का अन्तर पड़ जाए तो समझो कि उसका कोई एक अंग ही कट गया है, ऐसी स्थिति में वह जीवित जरूर रहेगा। अर्थात् वह सत्संग में अवश्य टिक जाता है, किन्तु जिसने सन्त में अवगुण देखा, वह तो निश्चित रूप से सत्संग से कभी न कभी विमुख हो ही जाता है, वही उसका शिरच्छेद हुआ समझें।'

58. गढडा मध्य-5 : पतिव्रता का धर्म

श्रीजीमहाराज ने अपने नेत्रकमलों के संकेत से भजन बन्द करवा कर कहा कि 'सुनिए, एक बात करते हैं - जो भगवान के भक्त हों उन्हें एक तो पतिव्रता के धर्म का पालन करना चाहिए और दूसरा उसे शूरवीरता भी रखनी चाहिए। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के सिवा, भले ही वह वृद्ध, रोगी, निर्धन तथा कुरूप क्यों न हो, किसी अन्य पुरुष के अच्छे गुणों को देखकर अपना मन विचलित नहीं करती। यदि गरीब परिवार की स्त्री पतिव्रता होती है, तो वह चाहे क्यों न बड़े राजा को देखे, परन्तु उसका मन चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार भगवान के भक्त को भी भगवान के प्रति पतिव्रता-धर्म रखना चाहिए। अपने पति के सम्बंध में कहे गए किसी निन्दा वचनों को कायर की तरह सुन नहीं लेना चाहिए; बल्कि

शूरवीरतापूर्वक उसका उत्तर दे देना चाहिए, ऐसे निम्न प्रकार के लोगों के प्रभाव में किसी भी प्रकार भगवान के भक्त को उससे दबना नहीं चाहिए। इस प्रकार शूरवीरता बनाए रखें।

और, संसार में लोग कहते हैं कि 'साधु को समदृष्टि रखनी चाहिए।' परन्तु, यह शास्त्रों का मत नहीं है। क्योंकि नारद-सनकादिक तथा ध्रुव, प्रह्लादजी आदि ने भी भगवान एवं उनके भक्तों के पक्ष का ही समर्थन किया है, किन्तु भगवान से विमुख लोगों का पक्ष नहीं लिया। और जो पुरुष विमुखों का पक्षधर बनेगा, वह इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में अवश्य ही विमुख हो जाएगा। इसलिए, भगवान के भक्तों को निश्चित रूप से भगवद्-भक्त का ही पक्ष लेना चाहिए, तथा विमुख का पक्ष छोड़ देना चाहिए। हमारी इस बात को सभी अपने मन में सुदृढ़ करके रखना।'

59. गढडा मध्य-45 : एकावन प्रकार के
मायिक बन्धनों से रहित होना

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त मुनिमंडल, ब्रह्मचारी, गृहस्थ सत्संगी, पार्षद तथा अयोध्यावासी, आप सभी मेरे आश्रित कहलाते हों, इसलिए, यदि मैं सावधानी रखकर आपको सन्मार्ग पर न चला सकूँ और आप भी अपने आचरण में कुछ लापरवाह रहें तो वह हमसे देखा नहीं जाएगा। इसलिए, जो-जो मेरे आश्रित कहलाते हैं, उनमें मैं एक तिलमात्र तक कसर नहीं रहने दूँगा। अतः आप भी अत्यंत सावधान रहना। यदि आपने तनिक भी असावधानी रखी, तो सत्संग में आपका पाँव नहीं जमेगा। और, मेरी तो ऐसी भावना है कि मुझे तो आप जैसे भगवान के भक्तों के हृदय में किसी भी प्रकार की वासना

और किसी भी तरह का अनुचित स्वभाव नहीं रहने देना है। तथा माया के तीन गुण, दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, चार अन्तःकरण, पंचभूत, पंचविषय तथा चौदह इन्द्रियों के देवता आदि में से किसी का भी संग नहीं रहने देना है। इन सभी मायिक उपाधि से रहित, एवं सत्तामात्र जो आत्मा है, उस आत्मस्वरूप बनकर आप भगवद्भक्ति करें, ऐसे विशुद्ध आप सभी को बनाना है, परन्तु किसी प्रकार माया का कोई दोष आपमें नहीं रहने देना है। और, यदि इस जन्म में हर कमी दूर नहीं हुई, तो बदरिकाश्रम में जाकर तप करके समग्र वासना को जलाकर भस्म करना है अथवा श्वेतद्वीप में जाकर निरन्नमुक्तों के साथ तपस्या करके समूची वासना को जलाकर भस्म कर डालना है। परन्तु, भगवान के सिवा किसी भी अन्य पदार्थों में प्रीति बनी रहे, ऐसा आपको नहीं रहने देना

है। इसीलिए, समस्त हरिभक्त तथा मुनिमंडल सावधान रहें।' इतनी वार्ता कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज अपने निवास स्थान में पधारे।

**60. गढडा मध्य-50 : रहस्य; जगत
वासना से मुक्ति**

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'आज हम अपना रहस्य आप सबको अपना समझकर बताते हैं। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, सती और पतंगे अग्नि में भस्म हो जाते हैं और शूरवीर संग्राम में अपने प्राण न्यौछावर कर देते हैं, वैसे ही हमने भी अपनी आत्मा को एकरस परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप में विलीन कर रखा है। हमने उस तेजोमय अक्षरब्रह्म में रहनेवाले मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान तथा उनके भक्त के साथ अखंड प्रीति जोड़ रखी है। उनके

सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में हमारी प्रीति नहीं है। हमारी ऐसी स्थिति निरन्तर रहती है। यद्यपि बाह्यरूप से हम अपने अतिशय त्याग का दिखावा नहीं करते, परन्तु अपने अन्तर-सम्मुख देखकर जब हम अन्य हरिभक्तों के अन्तर-सम्मुख देखते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि बड़े-बड़े परमहंस और बड़ी-बड़ी सांख्ययोगिनी स्त्रियों के हृदय में जगत के प्रति थोड़ी-बहुत आसक्ति तो दिखती है किन्तु हमारे अन्तःकरण में कभी स्वप्न में भी जगत के प्रति आसक्ति का संकल्प नहीं होता तथा कोई भी हमें भगवान तथा भगवान के भक्त की भक्ति से च्युत करने में समर्थ नहीं है, ऐसी हम में दृढ़ता है।

जब (आत्मा को) भगवान की प्राप्ति नहीं हुई थी, तब भी भगवान की शक्ति, काल और कर्म भी इस जीव का नाश नहीं कर पाए, तथा

माया भी उसको अपने में विलीन नहीं कर सकी, तो अब तो भगवान की प्राप्ति हुई है, तो फिर काल, कर्म और माया की क्या मजाल है? ऐसा समझकर ही अब हमने साहस बटोरकर रखा है कि 'अब भगवान और भगवान के भक्त के सिवा अन्य किसी से भी प्रीति नहीं रखनी है।' तथा जो भक्तजन हमारी संगत में रहेंगे, उनके हृदय में भी कोई सांसारिक आसक्ति नहीं रहने देनी है। क्योंकि जिसकी हमारे जैसी आन्तरिक दृढ़ता हो, उसी के साथ हमारी पटती है। और, जिसके हृदय में सांसारिक सुख की वासना बनी रहती हो, उसके साथ हम स्नेह करने का प्रयास करें, फिर भी हमारा स्नेह उससे नहीं जुड़ सकता। अतः हमें तो भगवान के निर्वासनिक भक्त ही प्रिय हैं, यह जो हमारे अन्तःकरण का रहस्य है, आप सभी को बता दिया।'